जनवरी 2025

एक नीति संक्षिप्त

भूमि प्रश्न

रचयिता: **रजत रॉय**

अनुवादक: मोहम्मद नियाज़ अहमद

महानिर्वाण कलकत्ता रिसर्च ग्रुप

प्रकाशक:

महानिर्वाण कलकत्ता रिसर्च ग्रुप
आईए-48, सेक्टर-III, भूतल
सॉल्ट लेक सिटी
कोलकाता-700097
भारत
वेब: http://www.mcrg.ac.in

मुद्रक:

ग्राफिक इमेज
न्यू मार्केट, न्यू कॉम्प्लेक्स, पश्चिम ब्लॉक
द्वितीय तल, कमरा नंबर 115, कोलकाता-87

यह प्रकाशन 'द फंड फॉर ग्लोबल ह्यूमन राइट्स' के सहयोग से लाया गया है। यह 'जस्टिस, सिक्योरिटी, एंड वल्नरेबल पॉपुलेशन ऑफ साउथ एशिया' पर कलकत्ता रिसर्च ग्रुप के अनुसंधान कार्यक्रम का एक हिस्सा है।

इस प्रकाशन अथवा इसके किसी भाग का उपयोग अन्य लोग नि:शुल्क कर सकते हैं, बशर्ते वे मूल स्रोत का उपयुक्त संदर्भ प्रदान करें।

भूमि प्रश्न

- "भूमि प्रश्न", या आम लोगों के लिए भूमि का अधिकार, समाज में हमेशा से संघर्ष का एक मुख्य मुद्दा रहा है। भारत में, औपनिवेशिक काल से लेकर वर्तमान युग तक, भूमि का प्रश्न समाज के निचले तबके, विशेष रूप से आदिवासी आबादी और पिछड़ी जातियों के लोगों की और अधिक अस्थिरता, हाशिए पर धकेलने और वंचना का मूल कारण रहा है।
- यह समस्या आज भी बनी हुई है, क्योंकि संकट के समाधान हेतु हितधारकों के बीच एक सूचित संवाद आरंभ करने के बजाय, राज्य ने — औपनिवेशिक काल से लेकर स्वतंत्रता के बाद तक — भूमि अधिग्रहण के मामलों में स्वयं को एकमात्र मध्यस्थ के रूप में स्थापित कर लिया है।

औपनिवेशिक काल:

एक ऐतिहासिक अवलोकन

- पहले, औपनिवेशिक काल में, अंग्रेजों ने एक मध्यस्थ वर्ग यानी ज़मींदारों को बनाया था। उन्हें किसानों से राजस्व इकट्ठा करने के लिए ज़मीन दी गई थी और उस राजस्व का एक बड़ा हिस्सा अंग्रेजों को जमा करना होता था, जबकि एक छोटा हिस्सा (1/11वां) वे अपने पास रख लेते थे। जो किसान ज़मीन जोतते थे, उनके पास उस ज़मीन का कोई मालिकाना हक नहीं था।

- **भारत में स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान**, कांग्रेस ने ज़मींदारी प्रथा को खत्म करने का संकल्प लिया था। तदनुसार, स्वतंत्रता के बाद, संविधान सभा ने 1947-49 में इस मुद्दे पर विचार-विमर्श किया और बाद में ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिए आवश्यक अधिनियमों का मसौदा तैयार किया। लेकिन ज़मींदारी प्रथा को खत्म करने की प्रक्रिया भारतीय संविधान के लागू होने से पहले ही शुरू हो गई थी। 1949 में, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, असम एवं महाराष्ट्र (बंबई) ने अपने-अपने राज्यों में ज़मींदारी उन्मूलन विधेयक पेश किए, और पश्चिम बंगाल ने बहुत बाद में इसका पालन किया।
- भारत में ज़मींदारी प्रथा को खत्म करने के लिए बनाए गए विधेयक पर संविधान सभा में 2 मई, 1949 को बहस के दौरान, सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखा। उन्होंने यह सुनिश्चित करने के लिए 'उचित' शब्द जोड़ने का सुझाव दिया कि सरकार द्वारा सार्वजनिक उद्देश्यों या सामान्य भलाई के लिए भूमि/संपत्ति के अधिग्रहण के बदले भूमि/संपत्ति धारकों को दिया जाने वाला मुआवज़ा 'उचित' होना चाहिए। अगले 70 वर्षों तक, "उचित मुआवज़ा" और "सार्वजनिक उद्देश्य" की व्याख्या और निहितार्थ भूस्वामियों/किसानों और राज्य के बीच विवाद का एक बड़ा मुद्दा बने रहे। दूसरे शब्दों में, ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन के बाद भी, भूमि का मुद्दा अनसुलझा रहा।
- यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि बंटाईदारों (बरगादारों) द्वारा अपनी उपज में बेहतर हिस्सेदारी की मांग और जिस ज़मीन पर वे काम कर रहे थे, वहाँ से बेदखली से सुरक्षा की लड़ाई का किसानों के आंदोलनों का एक लंबा इतिहास रहा है। तेभागा आंदोलन (1946-49), जिसमें किसानों ने उपज का दो-तिहाई हिस्सा

अपने हिस्से के रूप में मांगा था, उन आंदोलनों की पराकाष्ठा थी। नतीजतन, स्वतंत्रता के शुरुआती दिनों में अलग-अलग समय पर विभिन्न कानून बनाए गए, जिन्होंने मिश्रित परिणामों के साथ कुछ मुद्दों को संबोधित करने का प्रयास किया। ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन से शुरू होकर, बरगादार अधिनियम 1950, पश्चिम बंगाल स्टेट अधिग्रहण अधिनियम, 1955 और कुछ अन्य अधिनियम बनाए गए। बाद में, बरगादार अधिनियम को पश्चिम बंगाल भूमि सुधार अधिनियम, 1955 में शामिल कर लिया गया।

- इन सभी विधायी प्रयासों के बावजूद, राज्य उचित भूमि सुधार लागू नहीं कर पाया। भू-स्वामी विभिन्न नामों से अपनी भूमि को अधिकतम सीमा (ceiling) से अधिक छिपाकर इसका विरोध करते रहे। **इसके परिणामस्वरूप, राज्य को कई किसान आंदोलनों का सामना करना पड़ा। अंततः, 1960 के दशक के अंत और 1970 के दशक की शुरुआत में, राज्य ने नक्सलबाड़ी विद्रोह देखा (जो उत्तरी बंगाल के ग्रामीण हिस्से नक्सलबाड़ी से शुरू होकर भारत के एक बड़े हिस्से में तेजी से फैल गया)।** इस विद्रोह ने भूमि के प्रश्न को राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य के केंद्र में ला दिया। फिर भी, यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कांग्रेस के नेतृत्व वाली राज्य सरकार ने अप्रैल 1976 तक लगभग 10.25 लाख एकड़ भूमि को अधिगृहीत किया था, जिसमें से 8.56 लाख एकड़ भूमि का अधिग्रहण किया गया और 6.27 लाख एकड़ भूमि को 8.47 लाख परिवारों के बीच पुनर्वितरित किया गया।

पश्चिम बंगाल में बामपंथी शासनकाल और भूमि प्रश्न

1977 में वाम मोर्चा सत्ता में आया और उसने भूमि सुधार के मुद्दे को बड़े उत्साह के साथ उठाया।

1. **वाम मोर्चा ने सत्ता में आने के बाद, सबसे पहले भूमि सुधार अधिनियम में संशोधन किए। उन्होंने भूस्वामियों द्वारा बरगादारों को उनकी ज़मीनों से बेदखल करने पर रोक लगा दी, और उनके नाम भूमि अभिलेखों में दर्ज करवाए।** इस अधिनियम में लगातार संशोधनों के साथ, उन्होंने मालिकों की गैर-खेती योग्य लेकिन अधिशेष भूमि को भी अधिनियम के दायरे में ले लिया। इस तरह, तालाब, फलों के बाग आदि भी भूमि सुधार अधिनियम के दायरे में आ गए। लेकिन, भूमि वितरण का मुद्दा अभी भी कई समस्याओं से घिरा हुआ था।
2. स्वतंत्रता के बाद पहले दशक में ही, भूमि सुधार प्रक्रिया को एक गंभीर समस्या का सामना करना पड़ा। सरकार द्वारा भूमि का अधिग्रहण और हस्तांतरण पूरी तरह से कर भी लिया जाता, तो भी यह भूमिहीन लोगों के बीच पुनर्वितरण की आवश्यकता को पूरा करने के लिए अपर्याप्त पाई गई। 1954-56 में पश्चिम बंगाल राज्य विधानसभा में तीन साल तक चली बहस के दौरान, तत्कालीन राज्य सरकार की दुविधा स्पष्ट हो गई। तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. बी.सी. रॉय और उनके मंत्रिमंडल के सहयोगियों के अनुसार, भूमि सुधार अधिनियम के तहत हस्तांतरित की जाने वाली कुल भूमि राज्य के भूमिहीन किसानों में वितरित करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी। तत्कालीन कांग्रेस सरकार द्वारा प्रस्तुत समस्या

यह थी कि यदि समस्त भूमिहीन किसान समुदाय को भूमि वितरण कार्यक्रम का लाभार्थी बनाया भी जाता, तो उन्हें दी जाने वाली भूमि इतनी छोटी होती कि वह कोई आर्थिक रूप से व्यवहार्य इकाई नहीं बन पाती। दूसरी ओर, सोवियत रूस में असफल प्रयोगों के बाद, सरकार किसी भी प्रकार के सामूहिक कृषि फार्म बनाने के विचार के विरुद्ध थी। लेकिन ज्योति बसु के नेतृत्व में विपक्ष इस बात पर अड़ा हुआ था कि जोतने वाले को ज़मीन दी जाए, क्योंकि संपूर्ण वामपंथी किसान आंदोलन इसी प्रतिज्ञा पर आधारित था। वाम दलों द्वारा अपनाई गई यह स्थिति तब फलीभूत हुई जब वे 1977 में सत्ता में आए और उन्होंने भूमि सुधार कार्यक्रम को गंभीरता से लिया। इसके परिणामस्वरूप, हस्तांतरित और अधिग्रहित की गई भूमि को छोटे-छोटे टुकड़ों (4-5 कट्ठा, यानी एक बीघा का 1/4वाँ, या एक एकड़ का 1/12वाँ) में विभाजित कर भूमिहीन लोगों में वितरित किया गया।

हालांकि, वाम मोर्चा सरकार द्वारा शुरू की गई बहुप्रशंसित भूमि सुधार पहल ने दो गंभीर समस्याओं को जन्म दिया:

1} बर्गा रिकॉर्डिंग (बंटाईदारों के नाम दर्ज करना) और भूमि बिक्री के मामले में भूस्वामी द्वारा पहला प्रस्ताव बंटाईदार (शेयरक्रॉपर) को देना अनिवार्य करने के कारण, एक बड़ी मात्रा में भूमि बाजार से	2} चूँकि अनुपस्थित भूस्वामियों ने अपनी भूमि में कम से कम निवेश करना शुरू कर दिया, जिससे बरगादारों को बीज, उर्वरक, सिंचित पानी (पंप किराए पर लेना आदि) की लागत की व्यवस्था करनी पड़ी, छोटे और गरीब किसान, जो इस भूमि सुधार

बाहर हो गई। यह अब एक विपणन योग्य वस्तु नहीं रही। दूसरे शब्दों में, बाजार सिद्धांतों के विपरीत, भूमि की कीमतें कम हो गई। इसने अनुपस्थित भूस्वामियों के लिए एक समस्या पैदा की और उन्होंने खेती में रुचि लेना कम कर दिया, जिससे भूमि में निवेश कम हो गया।	आंदोलन के लाभार्थी बने थे, धीरे-धीरे खुद को ऐसी स्थिति में पाया कि वे खेती के लिए आवश्यक लागत को पूरा करने के लिए ग्रामीण साहूकारों पर अधिक निर्भर होने लगे। इसके परिणामस्वरूप, वे अपनी उपज बाजार में नहीं बेच सके, और परेशानी में साहूकारों को अपनी उपज की बिक्री करने के लिए मजबूर हुए। पश्चिम बंगाल में इस मुद्दे का अध्ययन करने के बाद, बारबरा हैरिस-व्हाइट अपने "ग्रामीण वाणिज्यिक पूंजी" (Rural Commercial Capital) नामक शोध में यह निष्कर्ष निकालती हैं कि वाम मोर्चा सरकार द्वारा शुरू किए गए गरीब-समर्थक और प्रगतिशील उपायों के बावजूद, राज्य के गरीब किसान गरीब ही रहे क्योंकि उन्हें अपनी उपज बेचने के लिए बाजार तक कभी सीधी पहुंच नहीं मिली। बिचौलियों/मध्यस्थों ने उन्हें नियंत्रित किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि गरीब भूमिहीन किसानों के लिए भूमि के अधिकार की स्थापना उन्हें आर्थिक रूप से सशक्त बनाने में एक लंबा रास्ता तय कर सकती थी।

- **हालाँकि, भूमि का एक सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भी जुड़ा होता है। यह मालिक को सुरक्षा के साथ-साथ पहचान की भावना भी देता है।** जिस प्रकार गरीब भूस्वामी सभी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद अपनी ज़मीन से चिपके रहने की कोशिश करते हैं, वह इसी भाव को दर्शाता है। लेखक ने 1973-74 में एक ऐसा ही मामला देखा था, जो इसका एक सटीक उदाहरण है।
- **दिसंबर 1973 के एक दिन, डीवीसी (दामोदर वैली कॉर्पोरेशन) के पंचेत टाउनशिप में, विभागीय अभियंता के कार्यालय को सैकड़ों संथालों ने घेर लिया।** हाथों में हरे झंडे लिए, संथाल उस स्थान पर आए और दिन भर शांतिपूर्वक कार्यालय के सामने बैठे रहे। उन्होंने कोई नारा नहीं लगाया, किसी भी कर्मचारी या अन्य लोगों को कार्यालय से बाहर आने या अंदर जाने से नहीं रोका। दिन भर की निगरानी के बाद, वे शांतिपूर्वक उस स्थान से चले गए। यही बात लेखक ने 1974 में भी देखी थी। यह ज्ञात हुआ कि उन्होंने ए.के. रे की मार्क्सवादी समन्वय समिति के नेतृत्व में खुद को संगठित किया था, यह एक ऐसा संगठन था जो बिहार (अब झारखंड में) के धनबाद क्षेत्र में आदिवासियों के अधिकारों के लिए लड़ता था। इस प्रदर्शन के कारणों की पूछताछ करने पर पता चला कि ये संथाल वे लोग थे जिन्हें उनके गाँवों से विस्थापित कर दिया गया था जब डीवीसी के पंचेत जलाशय के निर्माण के

दौरान उनके 8 गाँव डूब गए थे। कुछ समय के लिए, वे हर साल डीवीसी पंचेत कार्यालय आते थे ताकि अधिकारियों को यह याद दिला सकें कि सरकार ने उन्हें उचित पुनर्वास देने का अपना वादा नहीं निभाया था। डीवीसी के पंचेत हाइडल प्रोजेक्ट का उद्घाटन तत्कालीन प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने 1958 में किया था। फिर भी, उनके गाँवों के अधिग्रहण के 15 साल बाद भी, संथाल शांतिपूर्वक आंदोलन करते रहे और अपनी भूमि के अधिकारहीनता और परिणामस्वरूप वंचना की ओर इशारा करते रहे।

यह मामला अनूठा नहीं है। वाल्टर फर्नांडिस के अनुसार, अकेले पश्चिम बंगाल में 1990 तक जल संसाधन परियोजनाओं के लिए सरकार द्वारा 5,00,000 एकड़ से अधिक भूमि का अधिग्रहण किया गया था। इन परियोजनाओं (बांधों और नहरों) से 1947 से 2000 तक विस्थापित हुए लोगों की कुल संख्या लगभग 338,216 होने का अनुमान है, जिसमें अनुसूचित जाति (SC) के 180,382 और अनुसूचित जनजाति (ST) के 150,318 लोग शामिल हैं। वाल्टर फर्नांडिस का तर्क है कि जबकि राज्य में जल संसाधन परियोजनाओं के लिए अधिग्रहित कुल भूमि का आधिकारिक अनुमान लगभग 865,475 एकड़ था, वास्तविकता संभवतः 12,00,000 एकड़ के आसपास है, क्योंकि सामुदायिक संपत्ति संसाधनों (CPR) भूमि के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है।

➢ पूरे भारत की तस्वीर भी उतनी ही निराशाजनक और परेशान करने वाली है। योजना आयोग द्वारा गठित एक विशेषज्ञ समूह ने मध्य भारत में विकास से

संबंधित मुद्दों का अध्ययन किया, जहाँ अतिवादी आंदोलन काफी समस्याएँ पैदा कर रहा था।

➢ **सरकारी अध्ययनों के अभाव में, 2008 में प्रकाशित रिपोर्ट ने वाल्टर फर्नांडिस के एक अध्ययन का हवाला दिया और इस तथ्य को स्वीकार किया कि 1947 से 2004 तक सभी प्रकार की विकास परियोजनाओं (बांध, रेलवे, खदानें, इस्पात संयंत्र, अन्य संयंत्र, सड़कें आदि) के कारण लगभग 6 करोड़ लोग विस्थापित हुए हैं। इनमें से 40% आदिवासी (आदिवासी) और 20% दलित हैं। यह अधिक ध्यान देने योग्य है कि जबकि भारत की आदिवासी आबादी 8.6% या 10.4 करोड़ (2011 की जनगणना) है, विकास परियोजनाओं द्वारा विस्थापित आदिवासियों की संख्या स्पष्ट रूप से उनकी संख्या के अत्यधिक असमानुपातिक है।**

- यह ध्यान में रखना चाहिए कि औपनिवेशिक काल में, भूमि को हमेशा उस राजस्व के संदर्भ में देखा जाता था जो वह शासकों को देती थी। लेकिन साथ ही, उन्होंने आवश्यक बुनियादी ढाँचा (जैसे बंदरगाह, रेलवे, सड़कें आदि) बनाने के लिए भी भूमि का उपयोग किया। उत्तर-औपनिवेशिक काल में, सरकार ने देश में तेज़ औद्योगीकरण की दिशा में कदम बढ़ाया और इस उद्देश्य के लिए बड़े पैमाने पर भूमि का उपयोग करना शुरू कर दिया। इसके अलावा, उद्योगपतियों को अपनी फैक्ट्रियां/संयंत्र/गोदाम/टाउनशिप आदि बनाने के लिए शून्य लागत पर भूमि दी गई। ज़ाहिर है, बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए, भूमि ग्रामीण लोगों से छीन ली गई। आदिवासी, **दलित और अनुसूचित जाति सबसे**

अधिक पीड़ित हुए (जैसा कि फर्नांडिस बताते हैं)। इस प्रकार, यह आश्चर्य की बात नहीं कि नक्सलवादी मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्रों में अपना प्रभाव बढाते रहे और राज्य इस खतरे का मुकाबला करने के लिए सुरक्षा-केंद्रित दृष्टिकोण अपनाता रहा।

- **यहाँ भूमि के मुद्दे की** वर्तमान स्थिति **को समझने का प्रयास किया जाएगा।** 90 के दशक में नव-उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू होते ही, कॉर्पोरेट एवं सरकारी गठजोड़ ने विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZ) के गठन के नाम पर बड़े पैमाने पर भूमि अधिग्रहण अभियान शुरू कर दिया।

- **किसानों ने इसका विरोध शुरू कर दिया और इसके परिणामस्वरूप नंदीग्राम, सिंगूर, भांगड़ और कटवा**

(सभी पश्चिम बंगाल में), कालिंगनगर और पॉस्को (दोनों ओडिशा में), खम्मम (आंध्र प्रदेश), विदर्भ (महाराष्ट्र), दादरी (उत्तर प्रदेश) तथा देश के कई अन्य स्थानों पर हिंसक संघर्ष हुए। किसानों के इस विरोध ने राजनीतिक नेतृत्व को बाध्य कर दिया कि वह 1894 के पुराने भूमि अधिग्रहण अधिनियम के स्थान पर एक नया कानून लेकर आए।

★ **नया अधिनियम 'भूमि अर्जन, पुनर्वासन और पुनर्व्यवस्थापन में उचित प्रतिकर और पारदर्शिता अधिकार अधिनियम, 2013' कहलाता है।** इसे लोकप्रिय रूप से 'आर एंड आर अधिनियम' (Rehabilitation and

Resettlement Act) के नाम से जाना जाता है, और उम्मीद थी कि यह नया कानून किसानों के बीच चल रहे आंदोलनों का एक व्यावहारिक समाधान साबित होगा। ऐसी खबरें भी हैं कि बड़ी संख्या में भूमि-विवाद के मामले विभिन्न अदालतों में अटके पड़े हैं, और उत्तर प्रदेश, पंजाब और अन्य जगहों से कुछ नए आंदोलनों की खबरें आ रही हैं। उदाहरण के लिए, जुलाई 2024 में, संगरूर (पंजाब) के किसान एक सीमेंट संयंत्र स्थापित करने की योजना के खिलाफ और पर्यावरणीय मुद्दे को लेकर आंदोलन कर रहे हैं। उत्तर प्रदेश में, प्रयागराज जिले में 2016 में भूमि मालिकों द्वारा उच्च मुआवजे की मांग को लेकर एक लंबा प्रतिरोध हुआ था, जब एक मेगा पावर प्लांट वहाँ काम करना शुरू कर दिया था। पिछले साल महाराष्ट्र के रत्नागिरी में, राज्य पुलिस को प्रस्तावित तेल रिफाइनरी के लिए लोगों को साइट से बलपूर्वक हटाना पड़ा था। ये सभी बातें एक ही ओर इशारा करती हैं: नया आर एंड आर अधिनियम भूमि (अधिग्रहण) मुद्दे के लिए सर्वसमाधान हल नहीं बन सका।

★ स्पष्ट रूप से, एक भिन्न दृष्टिकोण की आवश्यकता होगी। इसके लिए, कुछ राज्यों में शुरू किए गए कुछ प्रयोगों की जांच की जानी चाहिए। आंध्र की प्रस्तावित नई राजधानी अमरावती का उदाहरण लें। **यहाँ, 33,000 एकड़ भूमि का अधिग्रहण किया जाना है।** सरकार को यह समझ में आ गया कि मौजूदा बाजार मूल्य पर पूरी भूमि खरीदना आसान नहीं होगा। इसलिए, उन्होंने 'भूमि समेकन प्रणाली' (land pooling system) अपनाई, जिसके तहत लोगों से अपेक्षाकृत कम कीमत पर अपनी भूमि देने को कहा गया। लेकिन इसकी भरपाई के रूप में

सरकार ने उन्हें उस भूमि का एक हिस्सा वाणिज्यिक उपयोग हेतु विकसित करने के बाद वापस देने का प्रस्ताव दिया।

> **आंध्र प्रदेश राजधानी क्षेत्र विकास प्राधिकरण (CRDA)— अमरावती की शहरी योजना एजेंसी**—ने यह स्वीकार किया कि इस योजना की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि यह भूमि देने वाले लोगों के प्रति समावेशी और न्यायसंगत है।

इस योजना का एक मसौदा जनता के लिए व्यापक रूप से उपलब्ध कराया गया था, जिसमें सार्वजनिक प्रतिक्रिया और आपत्तियों के लिए 30 दिन का समय दिया गया था। सरकारी अधिकारियों ने निवासियों से उनकी वापसी योग्य भूखंडों के डिजाइन, आकार और स्थान पर परामर्श करने के लिए विभिन्न गांवों का दौरा किया। भूस्वामी अपने गांवों के लिए भूखंड उप-विभाजन योजनाओं को स्वयं देख सकते थे और सीधे अधिकारियों से अपनी शंकाओं का समाधान कर सकते थे। जाहिर तौर पर, सीआरडीए ने भूस्वामियों की प्रतिक्रिया को गंभीरता से लिया, उनके सुझावों को संशोधित योजना में शामिल किया।

इसके परिणामस्वरूप, जिन 24 गाँवों से अपनी भूमि छोड़ने का अनुरोध किया गया था, उनमें से 22 ने योजना की घोषणा के चार महीने के भीतर सहमति दे दी। इसके बाद, वापसी योग्य भूमि भूखंडों का आवंटन निष्पक्षता के लिए इलेक्ट्रॉनिक लॉटरी के माध्यम से किया गया। ये लॉटरी गाँवों में आयोजित की गईं, जिसमें भूस्वामियों को मोबाइल संदेश के माध्यम से उनके भूखंड आवंटन की पुष्टि प्राप्त हुई।

उनके भूखंड आवंटन पत्र भी तुरंत मुद्रित कर उन्हें सौंप दिए गए, और सॉफ्टकॉपी ऑनलाइन उपलब्ध कराई गई।

हालाँकि यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि (जैसा कि प्रख्यात समाजशास्त्री और विधि शोधकर्ता कल्पना कन्नबिरन ने इंगित किया है) जिन भूस्वामियों ने सरकार को अपनी ज़मीन आसानी से सौंपने के लिए आगे आए, वे ज्यादातर अनुपस्थित भूस्वामी थे। कुछ विवाद अभी भी बने हुए हैं। इस प्रकार, जबकि कुछ लोगों ने विरोध किया है और इस भूमि पूलिंग दृष्टिकोण में शामिल नहीं हुए हैं, उनकी भूमि को आर एंड आर अधिनियम के दिशानिर्देशों का पालन करते हुए अधिग्रहित किया जा रहा है।

- गुजरात ने भी इस भूमि समेकन प्रणाली की शुरुआत कुछ हद तक सफलतापूर्वक की है। लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि आंध्र प्रदेश और गुजरात—इन दोनों राज्यों की जनसंख्या घनत्व पश्चिम बंगाल और केरल जैसे राज्यों की तुलना में काफी कम है। दूसरे शब्दों में कहें तो, बंगाल और केरल के विपरीत, इन राज्यों के पास विकासात्मक कार्यों के लिए अपेक्षाकृत अधिशेष भूमि उपलब्ध है।

आइए अब हम पश्चिम बंगाल के एक और स्थान पर ध्यान दें, जहाँ राज्य सरकार द्वारा एक कोयला क्षेत्र विकसित करने के लिए भूमि अधिग्रहण के प्रयासों का आदिवासियों (मुख्य रूप से संथालों) द्वारा विरोध किया जा रहा है।

- **देउचा पचामी बीरभूम जिले में स्थित है**, जहाँ, सरकारी अनुमानों के अनुसार, भारत में कोयले का सबसे बड़ा भंडार और कुछ ठीक मात्रा में बेसाल्ट पाए गए हैं।

- प्रस्तावित बंगाल बीरभूम **कोलफील्ड कंपनी** के दायरे में आने वाला क्षेत्र, यानी **3400 एकड़ में कुल 21,000 आबादी वाले 12 गाँव शामिल हैं।** वे अधिकतर अनुसूचित जाति (SC) और अनुसूचित जनजाति (ST) के हैं। स्थानीय लोग आंदोलनरत रहे हैं कि भूमि अधिग्रहण प्रक्रिया शुरू करने से पहले ग्राम सभा से कोई 'सहमति' (वन अधिकार अधिनियम, 2006 के अनुसार) नहीं मांगी गई।

- **ममता बनर्जी सरकार, जो सिंगूर- नंदीग्राम भूमि आंदोलनों की लहर पर सवार होकर सत्ता में आई थी, अब दुविधा में है। सरकार का कहना है कि वह अभी भी भूमि के किसी भी जबरन अधिग्रहण के विचार के खिलाफ है। फिर भी, राज्य प्रशासन पुलिस और सत्तारूढ़ पार्टी के कार्यकर्ताओं की मदद से वहां के स्थानीय लोगों को उनकी ज़मीन छोड़ने के लिए मजबूर करने की हर संभव कोशिश कर रहा है।**

- इसके अलावा, राज्य, नई रेलवे लाइनों या सड़कों के लिए भूमि अधिग्रहण करते समय, नए भूमि अधिग्रहण अधिनियम का पालन नहीं करता है, और उत्कृष्ट डोमेन (eminent domain) के रूप में अपनी शक्ति का सहारा लेते हुए एकतरफा अधिग्रहण करता है।

हमें विभिन्न राज्यों में भूमि स्वामित्व के विविध स्वरूप को ध्यान में रखना चाहिए, और यह स्वीकार करना चाहिए कि पूरे देश के लिए एक ही मॉडल उपयुक्त नहीं हो सकता।

एक उदाहरण

मगरपट्टा का मामला: पुणे रेलवे स्टेशन से 7 किलोमीटर दूर स्थित मगरपट्टा, यह पहला ऐसा प्रोजेक्ट है जिसमें किसानों ने अपनी ज़मीन को रियल एस्टेट डेवलपर्स को बेचने के बजाय, अपनी ज़मीन को एक साथ मिलाकर एक छोटा टाउनशिप बनाया। इस टाउनशिप का नाम गोत्र के नाम पर रखा गया था। इस टाउनशिप का निर्माण एक कंपनी बनाकर किया गया, जहाँ वे सभी किसान, जिन्होंने अपनी ज़मीन दान की थी, हितधारक (stakeholders) हैं। **इस टाउनशिप में एक वाणिज्यिक क्षेत्र, आवासीय क्षेत्र, अस्पताल, स्कूल, शॉपिंग मॉल आदि हैं, और 30% ज़मीन हरियाली के लिए छोड़ी गई है।** मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि यह एक आदर्श मॉडल है। शायद यह गरीब और असहाय भूस्वामियों के लिए डेवलपर्स के चौतरफा कब्ज़े से अपनी ज़मीन और आजीविका की रक्षा के लिए एक वैकल्पिक मॉडल हो सकता है।

भूमि एक अद्वितीय संपत्ति है। जनसंख्या तेज़ी से बढ़ने के साथ, भूमि की कमी भी बढ़ रही है। भूमि पर, या उसके उत्पादों पर नियंत्रण को लेकर होने वाले संघर्ष ही मूल रूप से अधिकांश राजनीतिक संघर्षों की जड़ में हैं। आधुनिक भारत में, कभी-कभी यह चरमपंथी आंदोलन (जैसे मध्य भारत में) के रूप में सामने आता है, और अन्य अवसरों पर यह किसान आंदोलन (जैसे पश्चिम बंगाल, पंजाब-हरियाणा,

पश्चिमी उत्तर प्रदेश क्षेत्र में) का रूप लेता है। इसके अलावा, 21वीं सदी के पहले दशक में, देश ने कॉर्पोरेट-सरकारी गठजोड़ द्वारा विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZ) के नाम पर भूमि हड़पने के आंदोलन के खिलाफ बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन देखे।

कृषि भूमि की खरीद और बिक्री कई कारकों पर निर्भर करती है:

- विक्रेता को किस तरह की कीमत मिलने की उम्मीद है।
- खरीददार को कौन सी कीमत उचित लगती है, इत्यादि।
- सांस्कृतिक मुद्दे जैसे अन्य कारक भी मौजूद हैं। भूमि को सामाजिक स्थिति और सुरक्षा का प्रतीक माना जाता है।
- **राजनीतिक हस्तक्षेप** जैसे कारक भी सामने आ सकते हैं।

उदाहरण के तौर पर, **1978 में पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चा सरकार ने उन भूमियों के साथ बटाईदारों (sharecroppers) के नाम दर्ज करने की प्रक्रिया शुरू की थी, जिनकी वे भू-मालिकों द्वारा खेती करने के लिए अनुबंधित थे।** यह कदम बटाईदारों को मालिकों द्वारा भूमि से मनमाने ढंग से बेदखल करने से बचाने के उद्देश्य से उठाया गया था।

इसे **ऑपरेशन बर्गा** के नाम से जाना जाता है।

यह प्रणाली यह सुनिश्चित करती थी कि बिक्री के समय, भू-स्वामी को पंजीकृत बटाईदार को पहला प्रस्ताव देना होगा। यदि बटाईदार भूमि खरीदने के लिए सहमत हो जाता है

(स्पष्ट रूप से बहुत कम कीमत पर), तो भू-स्वामी के पास उसके साथ सौदा पूरा करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं होता।

इस प्रकार, अंततः, बहुप्रशंसित ऑपरेशन बर्गा ने बंगाल की अधिकांश कृषि भूमि को भूमि बाजार से बाहर कर दिया था।

इस प्रकार, यह हमारे लिए स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा सिंगूर में एक ऑटो प्लांट स्थापित करने की कोशिश करने पर, सबसे पहले अनुपस्थित भू-मालिकों ने स्वेच्छा से अपनी भूमि सरकार को क्यों सौंप दी।

प्रतिरोध मुख्य रूप से उन किसानों और खेतिहर मजदूरों से आया जो पूरी तरह से भूमि से होने वाली आय पर निर्भर थे। हमें याद रखना चाहिए कि पश्चिम बंगाल में औसत कृषि भूमि जोत केवल 0.77 हेक्टेयर है, जबकि तमिलनाडु में 0.83 हेक्टेयर, गुजरात में 1.49 हेक्टेयर और आंध्र प्रदेश में 1.06 हेक्टेयर है। राष्ट्रीय औसत 1.08 हेक्टेयर है।

पिछले 70 वर्षों में ग्रामीण भारत में ग़रीब और वंचित वर्गों का भूमि पर अधिकार कमजोर होता गया है, वहीं केंद्र सरकार ने इन्हें मजबूत करने के लिए कई कानून पेश किए हैं। इनमें शामिल हैं:

- पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम, 1996 (PESA)
- वन अधिकार अधिनियम 2006
- भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास और पुनर्स्थापन में उचित मुआवजा और पारदर्शिता का अधिकार अधिनियम, 2013 (R&R अधिनियम 2013)। लेकिन ऐसा

लगता है कि ये कानून अकेले इस मुद्दे को हल नहीं कर सके हैं, दूसरे शब्दों में, वे अपर्याप्त हैं। इस प्रकार, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान अपने उत्पादों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) और मंडियों से सरकार द्वारा अनिवार्य खरीद की मांग करते हुए आंदोलन कर रहे हैं।

संक्षेप में, यह देखा जा सकता है कि कृषि भूमि का वाणिज्यिक, औद्योगिक और शहरीकरण के उद्देश्यों के लिए उपयोग करने के संबंध में देश के विभिन्न हिस्सों में पहले से ही कुछ वैकल्पिक मॉडल आज़माए जा रहे हैं। अन्य मॉडल भी हो सकते हैं। लेकिन, किसी भी मॉडल की सफलता अनिवार्य रूप से एक तथ्य पर आधारित है: भू-मालिकों को भी विकासात्मक परियोजनाओं में हितधारक बनाया जाना चाहिए। लेकिन इस सिद्धांत को अभी तक व्यवहार में नहीं लाया गया है।

जहां एक ओर राज्य और कॉर्पोरेट जगत 'विकास' (जैसे औद्योगीकरण, शहरीकरण, बुनियादी ढांचा आदि) के नाम पर भूमि अधिग्रहण के मुद्दे पर आक्रामक रूप से आगे बढ़ रहे हैं, वहीं गरीब लोग इसके नकारात्मक परिणामों को झेलने वाले बने हुए हैं और उनके विकल्प सीमित होते जा रहे हैं। राज्य द्वारा अधिग्रहण का घोषित उद्देश्य लोक कल्याण होता है, और इसके लिए वह उत्कृष्ट अधिकार (eminent domain) का प्रयोग करता है। हालांकि, यह कई दृष्टिकोणों से गहन जांच के दायरे में आता है।

इस संदर्भ में, सुप्रीम कोर्ट की दो-न्यायाधीशों की पीठ द्वारा दिया गया एक पुराना फैसला पढ़ना दिलचस्प होगा, जिसने कोलकाता नगर निगम बनाम बिमल के. शाह

एवं अन्य के मामले में एक महत्वपूर्ण निर्णय दिया था। इसमें यह कहा गया था कि केवल मुआवजा प्रदान करना राज्य द्वारा अनिवार्य अधिग्रहण को न्यायोचित नहीं ठहराता है, जब तक कि प्रक्रियात्मक सुरक्षा उपायों का पालन न किया जाए।

साथ ही, इसने चेतावनी दी कि संपत्ति के अधिकार को केवल दो शर्तों तक सीमित नहीं किया जा सकता है: क) अधिग्रहण सार्वजनिक उद्देश्य के लिए हो; और ख) मुआवजे का भुगतान। इसे अधिक सार्थक व्याख्याओं के लिए रास्ता देना चाहिए।

एक और उदाहरण

सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) का एक हालिया फैसला महत्वपूर्ण हो सकता है।

> 5 नवंबर, 2024 को सर्वोच्च न्यायालय की नौ-न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने 8:1 के बहुमत से फैसला सुनाया कि सभी निजी संपत्ति को सरकार द्वारा अधिग्रहण और पुनर्वितरण के लिए संविधान के अनुच्छेद 39(b) के तहत "समुदाय के भौतिक संसाधन" के रूप में नहीं माना जा सकता है।

विभिन्न निचली अदालतों में एक लंबी लड़ाई लड़ने के बाद, प्रॉपर्टी ओनर्स एसोसिएशन और अन्य ने महाराष्ट्र राज्य के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में एक विशेष अनुमति याचिका दायर की थी।

महाराष्ट्र सरकार महाराष्ट्र आवास और क्षेत्र विकास अधिनियम 1976 का हवाला देते हुए और कारण के रूप में जन कल्याण का उल्लेख करते हुए कई शहरी पुरानी और जीर्ण-शीर्ण संपत्तियों का अधिग्रहण करने की कोशिश कर रही थी। दिलचस्प

बात यह है कि इस मामले में पश्चिम बंगाल राज्य सहित कई अन्य पक्ष भी शामिल थे। **उनका मामला पश्चिम बंगाल भूमि सुधार अधिनियम 1955 और अधिनियम में 1981 और 1986 में किए गए बाद के संशोधनों की संवैधानिकता से संबंधित था।**

- महाराष्ट्र आवास और क्षेत्र विकास अधिनियम (MHADA Act) में की गई घोषणा के समान, पश्चिम बंगाल भूमि सुधार अधिनियम 1955 में भी यह घोषणा शामिल है कि इसे संविधान के अनुच्छेद 39 के खंड (b) और (c) में निर्दिष्ट सिद्धांतों को सुरक्षित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाने हेतु अधिनियमित किया गया है।
- भारत के मुख्य न्यायाधीश (CJI) डी.वाई. चंद्रचूड़ ने अपने लिए और न्यायमूर्ति हृषिकेश रॉय, जे.बी. पारदीवाला, मनोज मिश्रा, राजेश बिंदल, सतीश चंद्र शर्मा और ऑगस्टाइन जॉर्ज मसीह के लिए मुख्य बहुमत राय लिखी। न्यायमूर्ति बी.वी. नागरत्ना ने आंशिक रूप से इससे सहमति व्यक्त की, जबकि न्यायमूर्ति सुधांशु धूलिया ने असहमति जताई।.
- पीठ ने समुदाय के भौतिक संसाधनों की परिभाषा, सार्वजनिक भलाई और पुनर्वितरण आदि से संबंधित कई मुद्दों पर विचार किया और अंततः उपरोक्त निष्कर्ष पर पहुँची।

पीठ ने यह भी टिप्पणी की थी कि:

संविधान के अनुच्छेद 37, 38 और 39, जो राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों का हिस्सा हैं, की व्याख्या राज्य की बदलती आर्थिक नीतियों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए, न कि एक कठोर और संकीर्ण दायरे में। व्याख्या में

यह लचीलापन भारत के लोगों के कल्याण और प्रगति के लिए भारतीय सामाजिक-आर्थिक नीतियों में होने वाले गतिशील परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए है।

उपर्युक्त अनुच्छेदों या संविधान के किसी अन्य प्रावधान की व्याख्या को उस काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए देखा जाना चाहिए, जिसमें इस न्यायालय द्वारा न्यायनिर्णयन के दौरान व्याख्या की गई थी।

निष्कर्ष

- कुछ प्रश्न यहाँ उठाए जा सकते हैं। निर्णय सुनाने से पहले, 9-सदस्यीय पीठ ने इस न्यायालय की विभिन्न पीठों द्वारा दिए गए कई अन्य पिछले फैसलों की समीक्षा की थी। केशवानंद भारती बनाम भारत संघ जैसा मामला उनमें से एक है। और, पीठ ने अपने फैसले में उनमें से कुछ की आलोचना की। वे इसे कैसे न्यायोचित ठहराना चाहेंगे? साथ ही, व्याख्याएँ भिन्न होती हैं। इस प्रकार, सार्वजनिक भलाई, सामान्य भौतिक धन, निजी संपत्ति आदि की परिभाषा की व्याख्याएँ बदलती रहती हैं।

- कानूनों के विकास का पूरा इतिहास इसी दिशा की ओर संकेत करता है। पुराना भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894, समाज और राज्य की सोच में आए व्यापक बदलाव के कारण गंभीर आलोचना का विषय बना। इसलिए यह अपेक्षा की जा सकती है कि निकट भविष्य में राज्य को अधिक जन-समर्थक भूमि कानून बनाने के लिए बाध्य होना पड़ेगा, जिससे लोगों को बेहतर आजीविका और सुरक्षा प्राप्त हो सके।

संदर्भ:

1. फर्नांडिस, वाल्टर, 2012. *प्रोग्रेस, एट हूज़ कॉस्ट? डेवलपमेंट-इंड्यूस्ड डिस्प्लेसमेंट इन वेस्ट बंगाल 1947-2000,* नॉर्थ ईस्टर्न सोशल रिसर्च सेंटर, इंडिया।
2. बारबरा हैरिस व्हाइट, 2007. *रूरल कमर्शियल कैपिटल: एग्रीकल्चरल मार्केट्स इन वेस्ट बंगाल*, ओयूपी, इंडिया।
3. रतन घोष एंड के नटराज, "*लैंड रिफॉर्म्स इन वेस्ट बंगाल*," *सोशल साइंटिस्ट*, खंड 6, अंक 6/7, पश्चिम बंगाल का विशेष अंक (जनवरी-फरवरी 1998) पृष्ठ 50-67.
4. आनंदबाजार पत्रिका.
5. सुप्रीम कोर्ट का फैसला, 5 नवंबर, 2024.

लेखक: रजत रॉय कलकत्ता रिसर्च ग्रुप (CRG) के सदस्य हैं और प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दोनों में व्यापक अनुभव रखने वाले एक वरिष्ठ पत्रकार हैं। उन्होंने 1981 में जब बंगाली दैनिक आजकाल लॉन्च हुआ, तब दो दिग्गज पत्रकारों, गौरकिशोर घोष और हामदी बेय के तहत अपने पत्रकारिता करियर की शुरुआत की। बाद में, वे आनंदबाजार पत्रिका से जुड़ गए। आनंदबाजार पत्रिका में अपने 18 साल के कार्यकाल के दौरान, उन्होंने विभिन्न जिम्मेदारियाँ संभालीं, जैसे दिल्ली ब्यूरो के सदस्य, दिल्ली ब्यूरो के प्रमुख, मुख्य रिपोर्टर (पश्चिम बंगाल के जनपदों में), समाचार समन्वयक, समाचार संपादक और एसोसिएट एडिटर (संपादक)। वे 2024 में CRG के 'जस्टिस, सिक्योरिटी, एंड वल्नरेबल पॉपुलेशन ऑफ साउथ एशिया' के अनुसंधान कार्यक्रम से जुड़े हुए हैं। यह प्रकाशन इसी शोध का एक हिस्सा है।

अनुवादक: डॉ. **मोहम्मद नियाज़ अहमद** वर्तमान में स्वामी विवेकानंद विश्वविद्यालय, बैरकपुर, कोलकाता के मैनेजमेंट विभाग में सहायक प्राध्यापक के रूप में कार्यरत हैं। उनके शोध-लेख सेज, रूटलेज और वाइली जैसे प्रतिष्ठित अंतरराष्ट्रीय प्रकाशनों में प्रकाशित हुए हैं। हिंदी और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में लेखन एवं प्रकाशन उनकी द्विभाषी दक्षता को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं।